नया भूमि अधिग्रहण कानून कैसे बनाया जाए
How to Design the Next Land Acquisition Law

संजय चक्रवर्ती
Sanjoy Chakravorty
April 6, 2015

ढोंग-पाखंड,भुलक्कड़पन, अवसरवाद और अज्ञान के विषैले मिश्रण और पैटर्नलिज़्म अर्थात् बाप-दादा की जायदाद समझने के कारण भूमि अधिग्रहण कानून खिचड़ी बन कर रह गया है. भाजपा के लिए कांग्रेस के बनाये इस कानून को पारित करने के लिए आवश्यक समर्थन जुटाना मुश्किल होता जा रहा है और अब उन्होंने मिले-जुले संकेत भेजने भी शुरू कर दिये हैं- हो सकता है कि वे इसे पारित कराने के लिए संसद का संयुक्त सत्र बुला लें, या हो सकता है कि संशोधनों के साथ तत्संबंधी अध्यादेश फिर से जारी कर दें या फिर राज्यों को इतनी छूट दे दी जाए कि वे कानून की जिस धारा को चाहें उसका पालन करें और जिसे नापसंद करते हों उसकी अनदेखी कर दें. लेकिन यह तो तय ही लगता है कि अब यह कानून एक घटिया कानून ही बनकर रहेगा. निजी हितों को ताक पर रखते हुए सार्वजनिक हित के लिए भूमि उपलब्ध कराने के जिस प्रमुख उद्देश्य से यह कानून बनाया जा रहा था वह अब पूरा नहीं होगा, क्योंकि किसानों के हित के संरक्षण के नाम पर जो राजनैतिक वर्ग अपना हित साधने में लगे हैं वे सार्वजनिक हित का मतलब ही भूल गए हैं.

इसके बेहतर समाधान के लिए ज़रूरी है कि हम समस्या को जड़ से समझने का प्रयास करें. छह दशकों से चले आ रहे भूमि अधिग्रहण के व्यापक और कभी-कभी हिंसक विरोध से निपटने के लिए कांग्रेस ने जो कानून बनाया था, वह भी कठोर, अन्यायपूर्ण और गैर-बराबरी का था. कई समुदायों को, खास तौर पर सबसे अधिक हाशिये पर खड़े समुदायों को तो भूमि अधिग्रहण के लिए अपनाये गये उपायों ने पूरी तरह बर्बाद ही कर दिया था. इस बात पर किसी तरह के विवाद की गुंजाइश नहीं है कि कांग्रेस इस प्रक्रिया के अंतिम छोर पर पहुँच ही गई थी और सभी प्रमुख राजनैतिक दल इस बात पर सहमत भी हो गए थे. इस बात पर भी संदेह की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए कि 90 प्रतिशत से अधिक अधिग्रहण और परिवर्तन सरकारी क्षेत्र की परियोजनाओं के लिए ही थे. लगता है कि ये सभी तथ्य ढोंग-पाखंड, भुलक्कड़पन और तेवरों के धुंधलके में कहीं खो गये हैं.

यह भी कहा जा सकता है कि यह उस समय की बात थी, लेकिन अब या पिछले दशक या उसके बाद की क्या स्थिति है? हालात तो ज़रूर बदल गए हैं. अब निजी क्षेत्र की बड़ी भूमिका है और उन्हें पहले की तुलना में अधिक ज़मीन की ज़रूरत है.. कृषि के मुकाबले कृषि से इतर क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था का महत्व अधिक बढ़ता जा रहा है. इसका अर्थ यह है कि सर्वाधिक दुर्लभ ज़मीन की ज़रूरत अब पेरी-शहरी क्षेत्रों में ही है. सरकारी परियोजनाओं के साथ मिल जाने के कारण अब हालात भी बदल गए हैं और अब पूरा फ़ोकस आंतर और अंतर-शहरी बुनियादी ढाँचे पर हो गया है. और सबसे ज़रूरी बात तो यह है कि ज़मीन के बाज़ार में मूलभूत अंतर आ गया है. अगर ऐप्पल्स की बात करें तो दूसरे देशों के समकक्ष स्थानों की

तुलना में भारत में ये स्थान, न केवल मुंबई और दिल्ली के महानगरों के हाई ऐंड स्थानों पर, बल्कि भारत के दूसरे शहरों के आसपास के पैरी-शहरी क्षेत्रों के मध्यम दर्जे के स्थानों पर भी और सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों के निम्न दर्जे के स्थानों पर भी सबसे अधिक महँगे हो गए हैं. लगभग सभी लोग इस बदलाव को महसूस कर सकते हैं, भले ही वे इसकी मात्रा का पूरा हिसाब न निकाल पाएँ. बस राजनैतिक वर्ग ही एक ऐसा वर्ग है जो ऐसे बर्ताव करता है मानो कि वह आज भी ज़मीनों के बाज़ार के अतीत के युग में जी रहा हो. हो सकता है कि जानकारी के अभाव के कारण ऐसा हो, लेकिन अधिक संभावना तो यही है कि वे ढोंग कर रहे हैं.

अतीत के इन हालातों में और आज की वास्तविकता को देखते हुए नया अधिग्रहण कानून कैसा बनाया जाना चाहिए? मैत्रीश घटक और परीक्षित घोष ने इस बारे में पूरी ईमानदारी से चिंतन किया है. उनके अनुसार इसके तीन संभावित व्यापक उपाय हैं. "पहला उपाय तो यही है, पैसे को ही बोलने दो, न्यूनतम मुआवज़े की रकम बढ़ाओ ताकि किसानों का समर्थन हासिल किया जा सके. दूसरा उपाय है, किसानों की बात सुनो. प्रभावित लोगों के जनमत के आधार पर परियोजना को मंज़ूरी दी जाए. तीसरा उपाय है कि यह काम नौकरशाहों और विशेषज्ञों पर छोड़ दिया जाए, अधिकार प्राप्त समिति अपनी सामाजिक लागत-लाभ मूल्यांकन के आधार पर उनके सुझावों की पुनरीक्षा करे." घटक और घोष के अनुसार समस्या यह है कि इसके बजाय कांग्रेस 'किचन सिंक' एप्रोच अपनाकर वैकल्पिक उपाय खोज जा रही है और ये पूरक उपाय सुझाए हैं. आज कानून में सभी उपाय हैं. जब इस विधेयक पर चर्चा हो रही थी तभी मैंने इसके परिणाम के बारे में बता दिया था कि "इस कानून के बीज में वे तत्व भी मौजूद हैं, जिनके कारण उनका विनाश भी हो सकता है."

भाजपा के प्रस्तावित संशोधन से विनाश की प्रक्रिया शुरू हो गई है. संशोधन का मूल उद्देश्य यही है कि कुछ स्थितियों में कांग्रेसी कानून में निहित दोनों खंडों अर्थात् "किसानों की आवाज़" और "विशेषज्ञों की राय" को निकाल दिया जाए. एक स्थिति के अंतर्गत भाजपा की अपेक्षा अधिकांश गैर-सरकारी गतिविधियों को बढ़ावा देने की है. इसे खास तौर पर "औद्योगिक कॉरीडोर" के रूप में अस्पष्ट रूप से परिभाषित करने की कोशिश की गई है. यह भी ध्यान रहे कि कांग्रेसी कानून में भी सरकारी क्षेत्र के मामले में किसानों को "आवाज़" उठाने की अनुमति नहीं है. मेरे अनुमान के अनुसार भाजपा के संशोधन में यह अलिखित धारणा निहित है कि कृषि से होने वाली सभी प्रकार की भावी आय के शुद्ध वर्तमान मूल्य में मुआवज़े की दर 20 से 400 गुना अधिक होने के कारण किसान इसका विरोध नहीं करेंगे.

यह समझना बहुत ज़रूरी है कि भारत में खेतीबाड़ी कोई लाभ का सौदा नहीं है. प्रति एकड़ औसत शुद्ध आय 10,000 रु. प्रति वर्ष से भी कम है, जो दुनिया में सबसे कम है. इसलिए खेती की ज़मीन का उत्पादकता-आधारित मूल्य औसतन 1.5 लाख रुपये प्रति एकड़ से अधिक नहीं होना चाहिए (संदर्भ के लिएः अमेरिका में खेती की ज़मीन का औसत मूल्य लगभग 1.4 लाख रुपये प्रति एकड़ है). असल में तो पूरे भारत में खेती की ज़मीन का प्रति एकड़ मूल्य कहीं भी इस समय 5 लाख रुपये से ज़्यादा नहीं है और उन्नत भारत में (शहरों के आसपास और समृद्ध ग्रामीण क्षेत्रों में) एक करोड़ या उससे कुछ अधिक

प्रति एकड़ है. इसलिए भारत में खेती की ज़मीन का मूल्यांकन उत्पादकता से नहीं,बल्कि उसकी दुर्लभता से होता है.

यह कल्पना करना भी कठिन है कि किसान कृषि से होने वाली आमदनी से कई गुना अधिक रकम को लेने से इंकार कर सकता है. भाजपा के संशोधन का यही आधार है. फिर भी अगर किसान इतनी बड़ी रकम लेने से इंकार करता है या इंकार कर सकता है, जैसा कि विरोधी दल के लोग कह रहे हैं तो यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महत्वपूर्ण जानकारी का अभाव या गलत जानकारी ही इसका कारण हो सकता हैः या तो किसानों को इस बात की पूरी जानकारी नहीं है कि उन्हें कितना पैसा मिलेगा या फिर उन्हें डर है कि भ्रष्टाचार या बिचौलियों के कारण उन्हें पूरी रकम नहीं मिल पाएगी या फिर उन्हें अपने - आप पर भरोसा नहीं है कि वे इतनी भारी रकम (या इतने बड़े परिवर्तन) को सँभाल भी पाएँगे या नहीं. निश्चय ही उच्च पदों पर विराजमान एक ऐसा राजनैतिक वर्ग भी है जिसे यथास्थिति बनाये रखने, गलत जानकारी देने या लोगों में डर बैठाये रखने में ही लाभ है, लेकिन इससे नुक्सान सभी को है. (कम उत्पादकता वाली ज़मीन के स्थान पर ऊँचे मूल्य न पाने से) किसान को तो खुद नुक्सान होगा ही और समग्र रूप में समाज को भी नुक्सान होगा.

भले ही यह बात कितनी भी स्वार्थपूर्ण और सनकी लगे, लेकिन यह राजनैतिक विरोध सच है. इससे कैसे निपटा जाए? इसके लिए विचारार्थ दो पक्ष हैं: "किचन सिंक" वाला कांग्रेसी कानून और इसके ही परिवर्तित रूप में भाजपा का संशोधन. दोनों में ही कमियाँ हैं. इनमें से किसी भी पक्ष में विश्व के सबसे अधिक महँगे ज़मीन के बाज़ार में मूल्यों को तय करने जैसा कोई बढ़िया उपाय नहीं है. लेकिन अनिच्छा से भी मेरा निष्कर्ष तो यही है कि कांग्रेसी कानून इस समय राजनैतिक दृष्टि से व्यावहारिक नहीं है. इसलिए अल्पकालिक समाधान यही है कि राज्यों को कोई भी एक मार्ग अपनाने की छूट दे दी जाए — (क) भाजपा के संशोधन को स्वीकार करें, (ख) कांग्रेसी कानून का साथ दें, या (ग) कांग्रेसी कानून की तुलना में ज़मीन गँवाने वाले किसानों को अधिकाधिक प्रोत्साहन और संरक्षण प्रदान करने वाली कोई और योजना बनाएँ (स्वयं कानून में भी इसकी व्यवस्था है). कई विकल्प उभर रहे हैं, बंगाल में ममता बनर्जी जैसी कट्टरवादी हैं (जो किसी भी प्रकार का भूमि अधिग्रहण राज्य में होने नहीं देंगी), ओडिशा में नवीन पटनायक जैसे मध्यमार्गी हैं और गुजरात में आनंदीबेन जैसी व्यवहारवादी हैं. मुझे संदेह है कि कुछ चतुर नेता ऐसे भी हैं जो इस वर्गीकरण को ज़िला स्तर तक भी ले जाने की कोशिश करेंगे. जैसे भाजपा वाले इसे शहरी-बहुल इलाके में लागू करने का प्रयास करेंगे और कांग्रेस वाले इसे कम शहरी इलाकों में ले जाने का प्रयास करेंगे. फिलहाल तो मेरा यही सुझाव है कि राज्यों को अपने शब्दबाणों से अपने राज्य के भविष्य पर दाँव लगाने दें. कुछ ही वर्षों में इसके परिणाम सामने आ जाएँगे.

लेकिन हम विशेषज्ञों के सामने परिणाम स्पष्ट हैं, लेकिन जब तक हर किसी के सामने परिणाम नहीं आ जाते तब तक इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा. इसलिए आवश्यक है कि गलत जानकारी को सही करने के लिए कठोर परिश्रम किया जाए, क्योंकि अतीत में भी भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया को और कानूनी प्रक्रिया

को इससे काफ़ी नुक्सान हुआ है. इसके साथ ही साथ समानांतर रूप में भूमि रिकॉर्डों को डिजिटाइज़ करने की भी बात चल रही है; इस दिशा में कई राज्यों ने काफ़ी प्रगति कर ली है, लेकिन यह बहुत बड़ा काम है और इसकी प्रक्रिया भी बहुत जटिल है. तत्काल जो काम बहुत ज़रूरी है और साथ ही संभावित भी, वह है भूमि के हर भावी लेन-देन की रिकॉर्ड संबंधी जानकारी को सार्वजनिक बनाने की परियोजना— अर्थात् निजी तौर पर की गई सभी प्रकार की बिक्री और सभी सरकारी अधिग्रहणों का रिकॉर्ड इसमें होना चाहिए. सभी को मालूम होना चाहिए कि "सामान्य" कीमतें क्या हैं; तभी भ्रष्टाचार और भू-माफ़ियों का भंडाफोड़ हो सकेगा. सभी को मालूम होना चाहिए कि कौन खरीद रहा है और कौन बेच रहा है और यह सब लेन-देन कहाँ हो रहा है? सभी को यह भी मालूम होना चाहिए कि सरकार अधिग्रहण की क्या कीमत दे रही है? यह जानकारी ऑन-लाइन की जानी चाहिए और हर तहसीलदार के दफ्तर में स्थानीय सूचनाएँ प्रदर्शित की जानी चाहिए. इसकी प्रतियाँ पंचायतों और ग्राम सभाओं को भेजी जानी चाहिए. साथ ही एक ऐसी संस्था भी बनायी जानी चाहिए जो खास तौर पर उन लोगों में जिनकी जमीन का अधिग्रहण किया जा रहा हो, वित्तीय साक्षरता को बढ़ावा देती हो. इस वज्रपात से सँभलने में उनकी मदद करें — क्योंकि इसमें कोई संदेह नहीं रहना चाहिए कि अधिग्रहण से अधिकांश किसानों पर वित्तीय वज्रपात तो होगा ही.

हम एक पैटर्नलिस्टिक स्थिति में फँस गये हैं. पैटर्नलिज़्म एक ऐसी स्थिति है जिसमें नागरिकों को सूचनाओं के वंचित रखा जाता है और यह स्थिति नये भूमि अधिग्रहण के डीएनए में न केवल अंतर्निहित ही है, बल्कि इसमें किये गये संशोधनों पर भी प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं. पिछला कानून 120 साल तक चला. यह नया कानून एक से पाँच साल तक ही चल पाएगा और फिर जल्द ही नये कानून की ज़रूरत होगी. भारत के नागरिकों को एक ऐसे राजनैतिक नेतृत्व की आवश्यकता है जो भूमि बाज़ार पर एक सूचना बाज़ार भी बना सके ताकि सही जानकारी रखने वाले नागरिकों को भूमि अधिग्रहण का बेहतर और दीर्घकालीन कानून बनाने में मदद मिले. यह नया कानून, मौजूदा कानून की तुलना में बेहतर सूचनाओं पर आधारित होना चाहिए ताकि भूमि को परिवर्तित करने से उसका अधिक मूल्यवान् उपयोग हो सके और सबको न्याय मिल सके. .

संजय चक्रवर्ती टैम्पल विश्वविद्यालय के भूगोल और शहरी अध्ययन विभाग में प्रोफ़ेसर हैं और The Price of Land: Acquisition, Conflict, Consequence नामक पुस्तक के लेखक हैं. वह ' कैसी' के अनिवासी विज़टिंग स्कॉलर हैं.

हिंदी अनुवादः विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार <malhotravk@gmail.com> / मोबाइल : 91+9910029919